

**प्रश्न:** इससे पहले कि मनुष्य ईश्वर को जान सके, उसे पता तो होना चाहिए कि ईश्वर क्या है। आप ईश्वर को मनुष्य के स्तर पर लाए बिना ईश्वर की अवधारणा प्रस्तुत कैसे करेंगे?

**कृष्णमूर्ति :** आप ऐसा नहीं कर सकते, सर। अब ईश्वर की इस खोज के पीछे कौन सी प्रेरणा काम कर रही है, और क्या यह खोज सच्ची है? हममें से अधिकतर के लिए यह खोज वास्तविकता से एक पलायन भर है। तो हमें इस बारे में अपने आप में बहुत स्पष्ट होना चाहिए कि क्या ईश्वर की यह खोज पलायन मात्र है, अथवा यह हर बात में सच की खोज है--हमारे संबंधों का सच, वस्तुओं को दिए जा रहे मूल्य का सच, अवधारणाओं का सच। यदि हम ईश्वर को सिर्फ इसलिए खोज रहे हैं क्योंकि हम इस संसार व इसकी दुर्गतियों से थक चुके हैं, तब तो यह खोज एक पलायन ही है। तब हम ईश्वर निर्मित कर रहे होते हैं और इसलिए वह ईश्वर नहीं होता। ज़ाहिर है कि मंदिरों का ईश्वर, पुस्तकों का ईश्वर, तो ईश्वर नहीं है, वह तो बस एक शानदार पलायन है। किंतु यदि हम सच की तलाश का जतन करें, क्रियाओं के किसी विशिष्ट समुच्चय में नहीं, अपितु अपनी सारी क्रियाओं, अपने सभी विचारों और संबंधों में, यदि अपने जीवन में हम भोजन, वस्त्र और आवास का सही मूल्यांकन मालूम कर पाएं, तब चूंकि हमारे मन स्पष्टता व समझ में सक्षम होंगे, तो फिर जब हम यथार्थ को खोजेंगे, उसे पा लेंगे। तब यह एक पलायन नहीं होगा। लेकिन यदि हम दुनियावी चीजों में ही दिग्भ्रमित हैं--रोटी, कपड़ा, मकान, रिश्ते और खयालात--तो हम यथार्थ को कैसे पा सकते हैं? हां, एक कल्पित यथार्थ हम गढ़ सकते हैं। अतः ईश्वर, सत्य अथवा यथार्थ को वह मन नहीं जान पाएगा, जो भ्रमित, संस्कारग्रस्त व सीमित है। ऐसा मन यथार्थ या ईश्वर के बारे में विचार कैसे कर सकता है? पहले इसे खुद को संस्कारमुक्त करना होगा। इसे स्वयं को अपनी ही सीमितताओं से मुक्त कर लेना होगा, केवल तभी इसे पता चलेगा कि ईश्वर क्या है, उससे पहले तो बिलकुल नहीं। यथार्थ अज्ञात है तथा जो ज्ञात है वह यथार्थ नहीं है।

इसलिए वह मन जो यथार्थ को जानना-समझना चाहता है, उसे अपनी संस्कारबद्धता से स्वयं को मुक्त करना पड़ेगा, तथा यह संस्कारबद्धता या तो बाह्य रूप से या आंतरिक रूप से आरोपित की गई है; और जब तक मन संबंधों में कलह व द्वंद निर्मित करता रहता है, यह यथार्थ को नहीं जान पाता। तो यदि व्यक्ति को यथार्थ का बोध करना हो, मन को प्रशांत, निश्चल होना होगा; किंतु यदि मन को निश्चल होने के लिए बाध्य या अनुशासित किया जाता है, तो वह निश्चलता अपने आप में ही एक सीमाबद्धता होगी, एक आत्म-सम्मोहन मात्र होगी। मन मुक्त एवं निश्चल तभी हो पाता है, जब यह उन मूल्यों को समझ लेता है, जिनसे यह घिरा हुआ है। अतः जो उच्चतम है, परम है, यथार्थ है, उसे समझने के लिए हमें आरंभ नितांत निम्न से, नितांत निकट से करना होगा, जिसका अर्थ है कि जिन वस्तुओं, संबंधों व विचारों में, अवधारणाओं में हम दिन-रात व्यस्त रहते हैं, हमें उनका मूल्य मालूम कर लेना होगा। और उन्हें समझे बिना मन यथार्थ को खोज ही कैसे सकता है? यह यथार्थ को ईजाद कर सकता है, प्रतिष्ठि बना सकता है, अनुकरण कर सकता है, क्योंकि इसने खूब सारी किताबें पढ़ रखी हैं, यह दूसरों के अनुभव को दोहराता रह सकता है। पर निश्चित ही वह तो यथार्थ नहीं है। यथार्थ की अनुभूति हेतु मन को अपनी सृष्टि थाम देनी होगी, क्योंकि मन जो भी रचता है, वह अतीत की दासता ही होती है। समस्या यह नहीं है कि ईश्वर होता है या नहीं, अपितु यह है कि मनुष्य ईश्वर का अन्वेषण किस प्रकार करे; और यदि अपनी खोज में वह स्वयं को सबसे मुक्त कर ले, तो वह अपरिहार्य रूप से उस यथार्थ को पा लेगा। परंतु उसे आरंभ निकट से करना होगा, कहीं दूर से नहीं। ज़ाहिर है कि दूर जाना हो, तो शुरूआत पास से ही करनी होती है। पर हममें से अधिकतर लोग अनुमान लगा लेना चाहते हैं, जो अत्यंत सुविधाजनक पलायन है, इसी वजह से धर्म ज्यादातर लोगों को हैरतअंगेज़ अफीम मुहैया कराते हैं।

तो मन को अपने ही बुने हुए समस्त मूल्यों के उलझाव से छुड़ा लेने का कार्य अत्यंत दुष्कर है, और चूंकि हमारे मन थके-हारे हैं, या हम आलसी हैं, हम धार्मिक पुस्तकें पढ़ लेने और ईश्वर के बारे में अटकलें लगाते रहने को तरज़ीह दिया करते हैं, लेकिन यकीनन वह तो यथार्थ की खोज नहीं है। अवबोध अनुभूति में है, अनुकरण में नहीं।

**प्रश्न :** क्या मन विचारक से भिन्न है?

**कृष्णमूर्ति :** क्या विचारक अपने विचारों से भिन्न है? क्या विचारों के बिना विचारक का अस्तित्व है? क्या विचार से अलग कोई विचारक है। विचार करना रोक दें, तो कहां होता है विचारक? क्या एक विचार का विचारक, अन्य विचार के विचारक से भिन्न है? क्या विचारक अपने विचार से अलग है, अथवा क्या विचार ही विचारक को निर्मित करता है जो तब विचार से अपना तादात्म्य कर लेता है, जब वह इसे सुविधाजनक पाता है और जब यह सुविधाजनक नहीं होता तो स्वयं को विचार से विलग कर लेता है? अर्थात् यह 'मैं', यह विचारक क्या है? स्पष्टतः विचारक विविध विचारों के संघात से बना होता है, जिन्होंने 'मैं' के रूप में पहचान बना ली है। तो विचार विचारक को उत्पन्न करते हैं, न कि इसका उलट होता है। अगर मुझमें विचार नहीं हैं, तो कोई विचारक भी नहीं है; ऐसा नहीं है कि विचारक हर बार अलग होता है लेकिन यदि विचार नहीं होते हैं, तो विचारक भी नहीं होता है। अतः विचारक विचारों का उत्पाद है, जैसे कर्ता कर्मों का उत्पाद है। कर्ता कर्मों को निर्मित नहीं करता।

\*\*\*

**श्रोता:** मेरा अनुभव यह है कि 'मैं' के सहयोग के बिना बोध नहीं होता है।

**कृष्णमूर्ति :** हम विशुद्ध बोध की बात नहीं कर सकते हैं। बोध सदा बोधकर्ता से मिश्रित होता है--यह संयुक्त घटना है। यदि हम बोध की बात करते हैं, बोधकर्ता तुरंत उसमें निहित हो जाता है। बोधमात्र के बारे में बोलना अपनी अनुभूति के परे की बात करना है; केवल बोध हो रहा हो, ऐसी अनुभूति कभी हमें होती नहीं है। यह हो सकता है कि आप गहन सुषुप्ति में, गहरी नींद में चले जाएं, परंतु गहन सुषुप्ति में न तो बोध हो रहा होता है, न बोधकर्ता होता है। यदि आप ऐसी अवस्था से अवगत हैं, जिसमें बोधकर्ता को बिना बोध के अन्य विषय बीच में लाए, मात्र स्वयं का बोध हो रहा हो, केवल तभी आप प्रामाणिक रूप से बोधकर्ता की बात कर सकते हैं। जब तक वह अवस्था नहीं जानी गई है, तब तक हमें बोध से अलग किसी बोधकर्ता की बात करने का अधिकार नहीं है। तो बोधकर्ता और बोधक्रिया संयुक्त घटना है, वे एक ही तमगे के दो पहलू हैं। वे पृथक नहीं हैं और हमें उन दो घटनाओं को पृथक करने का कोई अधिकार नहीं है, जो पृथक नहीं हैं। हम बोधकर्ता को बोध से अलग करने का आग्रह करते हैं, जबकि उसके लिए कोई वैध आधार नहीं है। हम बोध से रहित बोधकर्ता से अवगत नहीं हैं, तथा हम बोधकर्ता से रहित बोध से भी अवगत नहीं हैं। अतएव एकमात्र प्रामाणिक निष्पत्ति यह है कि बोध एवं बोधकर्ता, 'मैं' एवं संकल्प एक ही पदक के दो पक्ष हैं, वे एक ही घटना के दो आयाम हैं, जो न तो बोध है, न ही बोधकर्ता है; किंतु, इसकी सम्यक् परीक्षा गहन अवधान की अपेक्षा रखती है।

**श्रोता :** यह चर्चा हमें कहां ले जाती है?

**कृष्णमूर्ति :** सर, यह प्रश्न ईश्वर के अन्वेषण की समीक्षा के संदर्भ में उठा था। स्पष्टतः हममें से अधिकतर लोग यथार्थ के अनुभव के विषय में जानना चाहते हैं। निश्चित ही, इसे तभी जाना जा सकता है, जब अनुभवकर्ता अनुभव करना बंद कर दे, क्योंकि अनुभवकर्ता अनुभव की सृष्टि कर रहा है। यदि अनुभवकर्ता ही अनुभव को रच रहा है, तब वह ईश्वर रच तो लेगा, पर इसलिए वह ईश्वर नहीं होगा। क्या अनुभवकर्ता का अंत हो सकता है? यही इस प्रश्न का समग्र अभिप्राय है। अब यदि अनुभवकर्ता और अनुभव संयुक्त घटना हैं, जो कि इतनी सीधी-साफ बात है, तो उस अनुभव करने वाले को, कर्ता को, विचारक को विचार करना बंद करना पड़ेगा। क्या यह सुस्पष्ट नहीं है? तो क्या विचारक विचार करना बंद कर सकता है? क्योंकि जब वह सोचता है, तो वह रचता है, और जो वह रचता है, वह यथार्थ नहीं होता है। इसलिए यथार्थ, ईश्वर, या जो भी आप उसे कहते हों, वह है या नहीं है, यह पता लगाने के लिए विचार प्रक्रिया का समापन आवश्यक है, जिसका अभिप्राय है कि विचारक को समाप्त होना होगा। उसका निर्माण विचारों द्वारा हुआ है या नहीं, यह बात फिलहाल अप्रासंगिक है। समस्त विचार-प्रक्रिया को, जिसमें विचारक भी शामिल है, समाप्त हो जाना होगा। केवल तभी हम यथार्थ का अन्वेषण कर पाएंगे। अब, उस प्रक्रिया का अंत लाने के संदर्भ में सबसे पहली बात यह है कि कैसे यह किया जाना है और कौन इसे करने वाला है। यदि विचारक यह करता है तो विचारक अभी भी विचार की ही उपज है। विचार का अंत लाने वाला विचारक अभी भी विचार की ही निरंतरता है। तो विचारक को करना क्या है? उसकी ओर से किया जा रहा कोई भी आयास अभी भी विचार की ही प्रक्रिया है। उम्मीद है, मैं अपनी बात स्पष्ट कर पा रहा हूँ।

\*\*\*

**श्रोता :** हम बोधकर्ता को बोध से, स्मरणकर्ता को स्मृति से विलग करने का आग्रह करते ही क्यों हैं? क्या यही हमारी समस्या के मूल में नहीं है?

**कृष्णमूर्ति :** हम इसे विलग इसलिए करते हैं, क्योंकि इस विलगता से स्मरणकर्ता, अनुभवकर्ता, विचारक स्थायी बन जाता है। स्मृतियां तो साफ तौर पर क्षणभंगुर होती हैं, अतः स्मरण करने वाला, अनुभव करने वाला यह जो मन है, अपने आप को पृथक कर लेता है क्योंकि यह स्थायित्व चाहता है। वह मन जो किसी प्रयास में लगा है, होड़ में जुटा है, जो चुन रहा है, अनुशासित हो रहा है, निश्चित ही यथार्थ को नहीं पा सकता, क्योंकि जैसा कि हमने कहा है कि इस प्रयास के माध्यम से वह स्वयं का प्रक्षेपण करता है, और इस प्रकार विचारक को बनाए रखता है। अब विचारक को उसके विचारों से मुक्त कैसे किया जाए? इस पर हम विमर्श कर रहे हैं। क्योंकि जो भी वह सोचता है, वह अतीत का ही परिणाम होता है, और इस तरह वह स्मृति के आधार पर ईश्वर की, सत्य की रचना कर लेता है, जो कि स्पष्ट ही सत्य नहीं है। दूसरे शब्दों में, मन निरंतर ज्ञात से ज्ञात की ओर ही गतिमान होता है। जब स्मृति काम करती है तो मन सिर्फ ज्ञात के क्षेत्र में ही गति कर रहा है, जब स्मृति कार्यरत होती है, तो मन केवल ज्ञात के क्षेत्र में गति कर सकता है और जब यह ज्ञात के क्षेत्र में ही गति करता है, रहता है, तो यह अज्ञात को कभी नहीं जान सकता। अतः हमारी समस्या यह है कि मन को ज्ञात से मुक्त कैसे करें। स्वयं को ज्ञात से मुक्त करने हेतु कोई भी प्रयास हानिकारक है, क्योंकि यह भी ज्ञात का ही प्रयास है। अतः समस्त प्रयास का अवसान आवश्यक है। क्या आपने कभी निष्प्रयास रह कर देखा है? यदि मैं समझ जाता हूँ कि समस्त प्रयास व्यर्थ हैं, सारा प्रयास मन का ही, 'मैं' का ही, विचारक का ही एक और प्रक्षेपण है, यदि मुझे इसके सत्य का बोध हो जाता है, तो क्या घटित होता है? यदि मैं साफ-साफ देख लेता हूँ कि किसी बोटल के लेबल पर 'विष' लिखा हुआ है, तो मैं उसे वहीं छोड़ देता हूँ। उसकी ओर आकर्षित न होने के लिए मुझे

कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। ठीक इसी प्रकार से--और यही बात हमें सबसे कठिन लगती है--यदि मुझे यह स्पष्ट हो जाए कि मेरी ओर से किया जाने वाला कोई भी प्रयास क्षतिकारी है, यदि मैं इसके सत्य को देख लेता हूं, तो प्रयास से मुक्त हो जाता हूं। हमारी तरफ से किया जाने वाला कोई भी प्रयास हानिप्रद होता है, लेकिन हम इस बारे में सुनिश्चित नहीं हैं क्योंकि हम कोई परिणाम चाहते हैं, कोई उपलब्धि चाहते हैं--और यही हमारी मुश्किल है। इसीलिए हम प्रयास पर प्रयास करते चले जाते हैं। परंतु ईश्वर, सत्य कोई परिणाम, कोई फल, कोई साध्य नहीं है। निश्चित ही इसे ही हम तक आना होता है, हम इस तक नहीं जा सकते, यदि हम इस तक जाने का प्रयास करते हैं, तो हम एक परिणाम, एक उपलब्धि ढूंढ रहे होते हैं। किंतु सत्य के आगमन हेतु मनुष्य को निष्क्रिय रूप से सजग होना होता है। निष्क्रिय सजगता एक ऐसी अवस्था है, जिसमें कोई प्रयास नहीं है; किसी चरम अर्थ में नहीं अपितु हर दृष्टि से, सजग होना है आपको अपनी क्रियाओं के प्रति, अपने विचारों के प्रति, अपनी सापेक्ष प्रतिक्रियाओं के प्रति, बिना चयन के, बिना निंदा के, बिना तादात्म्य अथवा निषेध के सजग होना है ताकि मन प्रत्येक विचार तथा प्रत्येक क्रिया को, बिना कोई राय बनाए, समझना आरंभ कर दे। इससे यह प्रश्न उभरता है कि क्या विचार के बिना समझना हो सकता है?

**श्रोता :** ज़रूर, यदि आपका किसी चीज़ के प्रति उपेक्षा-भाव है तो।

**कृष्णमूर्ति :** सर, उपेक्षा-भाव, उदासीनता भी राय बना लेने का ही एक प्रकार है। एक मंद मन, एक उदासीन मन, सजग नहीं है। बिना निर्णायक बने देखना, जो हो रहा है उसे ठीक-ठीक, तथ्यतः जानना ही सजगता है। अभी, निकटतम वर्तमान में सजग हुए बिना ईश्वर को खोजना वृथा है। मंदिर चले जाना तो अपेक्षाकृत सरल है, किंतु वह तो अनुमान के क्षेत्र में एक पलायन ही है। यथार्थ को समझने के लिए हमें इसे प्रत्यक्ष रूप से जानना होगा, और स्पष्ट है कि यथार्थ, समय तथा आकाश की परिधि का नहीं है; यह वर्तमान में है, एवं यह वर्तमान हमारा अपना विचार, हमारी अपनी क्रिया ही है।

**बंगलोर, 4 जुलाई] 1948**